भारतीय संस्कृति में विज्ञान की परम्परा

डा० जयन्त विष्णु नार्लीकर

प्रास्ताविक

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध को अक्सर 'विज्ञानयुग' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। शहर में रहने वाला मानव यदि अपनी दिनचर्या का समालोचन करे तो उसे उपरोक्त संज्ञा की यथार्थता शीघ्र ही दिखाई देगी। सबेरे नींद खुलने से रात के सोने के समय तक उसका सम्पर्क विज्ञान के कितने ही आविष्कारों से आता है। शहर छोड़कर यदि हम देहातों में जायें तो वहाँ भी विज्ञान के फैलते परिणाम दिखाई देते हैं। भारत जैसे प्रगतिशील देश में जहाँ कृषि का अत्यन्त महत्व है वहाँ किसान वैज्ञानिक अनुसंधानों का फायदा उठा रहे हैं।

विज्ञान के आजकल के महत्वपूर्ण परिणामों को देखते हुए दो बातें आँखों के सामने आती हैं। एक बात हमें भविष्य काल की ओर आकर्षित करती है तो दूसरी भूतकाल की ओर। क्या विज्ञान और उससे पैदा हुई तकनीकी का प्रभाव दिनों-दिन बढ़ता ही जायेगा? क्या वैज्ञानिक अनुसंधान मानव समाज की कठिनाइयों को सुलझाने में कामयाब होंगे? या विज्ञान को पचाने में असमर्थ होकर हमारी सामाजिक व्यवस्था तहस-नहस हो जायेगी? भविष्यकाल का अध्ययन करने वाले विशेषज्ञों, समाजशास्त्रियों तथा वैज्ञानिकों में इन प्रश्नों को लेकर काफी चर्चा हुआ करती है। भविष्यकाल समाज को किस दिशा में ले जायेगा इस बारे में कोई भी निश्चित रूप से नहीं कह सकता। इसलिये विशेषज्ञों में एकमत का अभाव दिखाई दे तो कोई अचरज की बात नहीं।

भूतकाल की ओर नजर डालें तो हमें एक अन्य प्रकार की अनिश्चितता दिखाई देती है। आधुनिक विज्ञानयुग की नींव पड़ी करीब दो शताब्दियों पहले यूरोप में हुए वैज्ञानिक विकास के कारण—जिस विकास का रूपांतर हुआ औद्योगिक क्रांति में। कोयले में छिपी ऊर्जा का प्रयोग करके बड़े-बड़े यंत्रों को चलाने की दीक्षा मानव को विज्ञान ने दी। फिर ऊर्जा के अन्य स्वरूप प्राप्त होते गये। आजकल कोयले के अलावा पेट्रोल, परमाणु शक्ति, पानी के बांध, गोबर गैस आदि अनेक साधनों का उपयोग मानव की दिनचर्या के लिये होता है। लेकिन अगर हम अधिकाधिक भूतकाल की ओर बढ़ें तो यह चित्र धूसर होता जाता है। क्या सामाजिक इतिहास में विज्ञान का सदैव महत्वपूर्ण हिस्सा रहा है? क्या ऐसा भी एक काल था जब आज की अपेक्षा भी अधिक महत्व विज्ञान को दिया जाता था?

संसार के सब भूभागों में यूरोप ही एक ऐसा प्रदेश है जहाँ इन प्रश्नों को लेकर काफी खोज हुई है। दो-ढाई हजार साल पहले की यूनानी सभ्यता से आजकल के जमाने तक उपलब्ध ग्रन्थों के सहारे हम विज्ञान और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में बहुत कुछ कह सकते हैं। यूरोप के अतिरिक्त संसार

के अन्य देशों में, जहाँ का इतिहास उपलब्ध नहीं है या जहाँ पुराने ग्रन्थों का अभाव है वहाँ इन प्रश्नों पर विचार विमर्श न हुआ हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

परन्तु भारत जैसे देश में जहाँ हजारों वर्षों से एक ऊँचे स्तर पर सभ्यता अव्याहत रूप से बनी रही है, जहाँ साहित्य-संगीत-कला की परम्पराएँ प्राचीन काल से चलती आई हैं, जहाँ दार्शनिकों तथा धार्मिक नेताओं ने समाज को प्रेरणाएँ दी हैं, वहाँ विज्ञान का क्या स्थान रहा है? मेरे विचार से इस प्रश्न की चर्चा विशेषज्ञों के द्वारा होनी आवश्यक है। इसी उद्देश्य से इस लेख में चर्चा के कुछ विषय प्रस्तुत किये जायेंगे।

पुरातन काल

यदि हम रामायण, महाभारत जैसे पुराने ग्रन्थ देखें तो उनमें हमें ऐसे अनेक सन्दर्भ दिखाई देते हैं जिनको यदि हम सत्य घटनाओं के द्योतक मानें तो उनसे एक उन्नत तकनीकी का आभास मिलता है। पुष्पक विमान, संजय का दिव्य दृष्टि से महाभारत की लड़ाई का आँखों देखा हाल, तरह-तरह के प्रक्षेपणास्त्रों का प्रयोग, मनुष्य का पानी के नीचे या आकाश में संचार, संजीवनी जैसी औषधि, मानव का आयुर्मर्यादा बढ़ाने में सफल होना— इत्यादि अनेक बातें हमारे पुराणों में पढ़ने को मिलती हैं।

ऐसे संदर्भों के आधार पर कभी-कभी ऐसा प्रतिपादन किया जाता है कि हमारी प्राचीन सभ्यता एक विज्ञान युग में से गुजर चुकी थी। आधुनिक काल में जो नये-नये वैज्ञानिक अनुसंधान हमारे सामने आ रहे हैं वे सब हमारे पुरातन पूर्वजों को विदित थे। वही आदिकालीन विज्ञान सम्पदा जो किसी कारण लुप्त हो गई थी, आज फिर से प्रकट हो रही है।

उपर्युक्त मत एक विवाद का विषय है। मनुष्य की कल्पनाशक्ति विशाल है। सृष्टि में अपने चारों ओर होने वाली घटनाओं का अवलोकन करते-करते वह उनमें मनगढ़न्त बातें भी समाविष्ट करता जाता है। कथा-कहानियों में हम मनुष्य की कल्पना की फलांगें कितनी दूर जा सकती हैं इसके उदाहरण पाते हैं। क्या ऐसी ही कवि कल्पनाएँ हमारे पुराणों में भी घुसी होंगी? खासकर हम जब इस बात को ध्यान में लाते हैं कि हमारे वेद, उपनिषद् आदि पुराने ग्रंथ सैकड़ों वर्षों तक लिखे नहीं गये बल्कि मुखोद्गत करके एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाये गये, तो यह अस्वाभाविक नहीं मालूम पड़ता कि क्रमशः नई-नई (अनधिकृत) बातें इन ग्रंथों में घुसेड़ दी गई हों।

फिर भी उपर्युक्तमत के प्रवर्तक ऐसा कह सकते हैं कि भले ही मनुष्य की कल्पनाशक्ति विशाल है, तो भी वह कुछ वास्तविक अनुभवों पर ही आधारित रहती है। इसलिये पुराणों में लिखी चमत्कृतिपूर्ण घटनाएँ यदि अधिकांश कपोल कल्पित हैं तो भी उनमें थोड़ा सत्य का अंश होना असंभव नहीं।

मेरे विचार से इस मतभेद को सुलझाने के लिये इस मत के प्रवर्तकों को एक ऐसा ग्रंथ प्रस्तुत करना चाहिये जिसमें हमारे पूर्वजों ने किसी तकनीकी अनुसन्धान की तकनीकी स्तर पर चर्चा की हो। ऐसा ग्रंथ एक 'मन्युअल' के स्वरूप का होना चाहिए जिसको पढ़कर हम उस अनुसंधान की पुनर्रचना कर सकें। उदाहरण के स्वरूप यदि हम एक ऐसे ग्रंथ को पेश कर सकें जिसमें विमान की रचना का वर्णन किया हो तो क्या उस ग्रन्थ के सहारे हम एक विमान बना सकेंगे? अभी तक ऐसा ग्रन्थ हमारे सामने नहीं आया है।

मैंने एक ऐसे आधुनिक ग्रंथ को देखा है जिसमें लेखक ने वैदिक ऋचाओं का विवेचन करके यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि दीर्घतमा ऋषि सूर्य की अन्तर्गत रचना से परिचित थे। आधुनिक खगोल-शास्त्र हमें यह बतलाता है कि सूर्य के केन्द्र प्रदेश में अत्यधिक तापक्रम तथा दबाव के फलस्वरूप परमाणु प्रक्रियाएँ होती हैं जिनमें हाइड्रोजन का हीलियम में रूपांतर होता है। इन प्रक्रियाओं के कारण ऊर्जा उत्पन्न

होती है जो सूर्य प्रकाश के रूप में सूर्य से बाहर निकलती है। उपर्युक्त ग्रंथ में लेखक ने वैदिक ऋचाओं का भावार्थ स्पष्ट करते हुए यह सिद्ध किया है कि सूर्यान्तर्गत परमाणु प्रक्रियाओं का अस्तित्व वेदकालीन ऋषियों को मालूम था। इसके लिये लेखक को ऋचाओं के अक्षरों, शब्दों को सांकेतिक मानकर उनके अर्थ को स्पष्ट करने के लिये एक कुंजी का प्रयोग करना पड़ा है। फिर भी आधुनिक खगोलशास्त्र द्वारा किया गया सूर्य का विवेचन जिस गणित की नींव पर खड़ा है उसका अभाव उपरोक्त विवेचन में दिखाई देता है। इसलिये यह विवेचन मेरी दृष्टि में अधूरा ही है।

इन तथाकथित तकनीकी अनुसंधानों के वर्णनों को छोड़कर यदि हम तात्विक चर्चात्मक बातों की ओर मुड़ें तो हमें वेदों तथा उपनिषदों में ऐसे अनेक उद्धरण मिलते हैं जो तत्कालीन विचारवंतों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण की झलक दिखाते हैं। सृष्टि की घटनाओं को केवल दैवी चमत्कार समझकर छोड़ देने के बजाय उन लोगों ने आधुनिक वैज्ञानिकों की तरह कुतूहल व्यक्त किया, सूचक प्रश्न पूछे और उन प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिये प्रयत्न किये। यह प्रश्न पूछने की आदत, ऐसा लगता है कि आगे चलकर लुप्त होती गई और 'गुरोर्वाक्यं प्रमाणम्' के आगे विद्यार्थियों ने टीकात्मक प्रश्न पूछने बन्द किये। अनुसंधान की जगह रटने ने ली। ऐसा क्यों हुआ, कब हुआ यह एक खोज का विषय है।

इस विषय को छोड़कर अब एक अन्य विषय की ओर मुड़ें जहां पुरातन ग्रंथों के उद्धरण उपयोगी साबित हो सकते हैं। महाभारत का एक उदाहरण लीजिये। जयद्रथ वध के अवसर पर ऐसा कहा जाता है कि सूर्यास्त के कुछ काल पहिले भगवान श्रीकृष्ण ने थोड़े समय के लिये सूर्य को ढँक दिया जिसके कारण सर्वत्र रात का आभास हुआ। यदि इस घटना को सच मानें तो इसका आधुनिक खगोलशास्त्रीय कारण क्या हो सकता है? १६ फरवरी १९८० के खग्रास सूर्यग्रहण का जिन्होंने प्रत्यक्ष दर्शन किया है उन्हें यह मानने में कठिनाई नहीं होगी कि जयद्रथ वध के समय सूर्यग्रहण हुआ होगा। खग्रास सूर्यग्रहण ऐसी घटना नहीं है जो अक्सर होती हो और पृथ्वी पर सभी जगह से दिखाई देती हो। आधुनिक गणकयंत्रों का उपयोग करके खगोलशास्त्री यह बतला सकते हैं कि पृथ्वी पर पिछले वर्षों में सूर्यग्रहण (खग्रास) कब-कब हुए और कहां कहां से दिखाई दिये। इसलिये यदि हम ऐसा प्रश्न पूछें कि सूर्यास्त के कुछ काल पहले कुरुक्षेत्र से खग्रास सूर्यग्रहण कब दिखाई दिया होगा तो उसके उत्तर से हमें महाभारत के काल का पता लग सकता है।

ग्रहणों के अतिरिक्त एक और उपाय से हमें खगोलशास्त्र का उपयोग करके पुराण काल की घटनाओं का काल निश्चित करने में सफलता मिल सकती है। पृथ्वी अपनी उत्तर दक्षिण धुरी के चारों ओर घूमती है, उस धुरी की दिशा भी आकाश के तारों के हिसाब से स्थिर नहीं है बल्कि धीरे-धीरे बदलती रहती है। उदाहरणस्वरूप ध्रुव तारा हमें स्थिर मालूम होता है जबकि वास्तव में पृथ्वी की धुरी के हिसाब से वह एक छोटी सी परिक्रमा करता है जिसके लिये उसे लगभग २५००० वर्ष लगते हैं। अन्य तारों की भी वही दशा है। पृथ्वी से देखने वाले की दृष्टि में इन तारों की दिशा धीरे-धीरे बदलती जाती है और १२,५०० वर्षों में यह परिवर्तन सर्वाधिक होता है। इसलिए यदि हमें पुराने ग्रंथों में आकाशस्थ तारों की दिशाओं का विवरण मिले तो उनकी तुलना उन तारों की आजकल की दिशाओं से करके हम उन ग्रंथों का कालखंड निश्चित कर सकते हैं। स्वर्गीय लोकमान्य तिलक ने अपने 'ओरायन' नामक शोधग्रंथ में ऐसे कुछ उद्धरणों की चर्चा की है और उसके सहारे वेदों का निर्माण काल निश्चित करने का यत्न किया है।

गणित और खगोलशास्त्र

ऐसा अक्सर कहा जाता है कि भारतीयों ने गणित विषय में शून्य की देन दी। वास्तव में शून्य की कल्पना अन्य संख्याओं की अपेक्षा कठिन है क्योंकि अन्य अंकों को हम मूर्तस्वरूप में देख सकते हैं। जैसे

चार आम, पांच पेड़ इत्यादि। शून्य अमूर्त है यद्यपि गणित में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। संख्याओं का जोड़ घटाना शून्य के सिवाय पूर्ण नहीं माना जाता। (आधुनिक बीजगणित की परिभाषा में धनात्मक और ऋणात्मक संख्याएँ जोड़ने की क्रिया के अंतर्गत एक 'ग्रुप' बनाती हैं जिसकी इकाई शून्य है।)

शून्य से दूसरे सिरे पर 'अनंत' की कल्पना भी पुराणों में पायी जाती है: 'पूर्णस्यपूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते'। अनंत भी शून्य के समान एक अमूर्त कल्पना है और हो सकता है कि ये दोनों कल्पनाएँ अमूर्त विषयों पर जोर देने वाली भारतीय विचार परम्परा की द्योतक हैं।

लेकिन शून्य और अनंत जैसी अमूर्त कल्पनाओं के अलावा संख्याओं के लिखने की दशम स्थान पद्धति भी भारत में ही पैदा हुई ऐसा समझा जाता है। इस पद्धति का प्रचार अरबों द्वारा यूरोप में हुआ। इसके मुकाबले रोमन लोगों की संख्या लेखन पद्धति अस्वाभाविक मालूम पड़ती है। इसलिये यह आश्चर्य की बात नहीं कि गणितज्ञों तथा सर्वसामान्य लोगों ने भारतीय पद्धति को अंगीकृत किया। इस पद्धति का प्रयोग गणित की एक महत्वपूर्ण क्रांति मानी जाती है।

यद्यपि गणित एक अमूर्त विषय माना जाता है, तथापि इसके प्रत्यक्ष जीवन में अनेक उपयोग होते हैं। सृष्टि रचना का अध्ययन करनेवाला विज्ञान गणित की ही नींव पर खड़ा है। आज से दो हजार साल पहले इस विज्ञान का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग था खगोलशास्त्र। उपलब्ध ग्रंथों के अनुसार यूनान, अरब तथा भारत में आकाशस्थ ग्रह तारों का तथा सूर्य चन्द्रमा का दिलचस्पी के साथ अध्ययन किया जाता था और इसके लिए गणित का प्रयोग भी होता था। यूनानी दार्शनिक अरस्तू, जो किसी समय सिकन्दर के गुरु रह चुके थे, यूनानी वैज्ञानिकों और दार्शनिकों की विचारधारा पर बहुत प्रभाव डाले हुए थे।

अरस्तूप्रणीत सिद्धांत के अनुसार पृथ्वी स्थिर मानी जाती थी और तारों तथा ग्रहों से सजा आकाश उसके चारों ओर परिभ्रमण करता है ऐसा समझा जाता था। गोलाकार मार्गों को अरस्तू ने विशेष महत्व दिया था। अधिकांश तारे इन गोलाकार मार्गों से पृथ्वी के चारों ओर चक्कर काटते दिखाई देते हैं। लेकिन ग्रहों के मार्ग कुछ उलटे सीधे नजर आते हैं। उनका समन्वय अरस्तू के सिद्धांत से करने के लिये हिप्पार्कस और टालोमी जैसे यूनानी गणितज्ञों ने ज्यामिति की क्लिष्ट रचनाओं का प्रयोग किया था। ये यूनानी विचारधाराएँ भारतीय खगोलशास्त्रियों पर भी प्रभाव डाल चुकी थीं।

लेकिन पांचवीं सदी में भारतीय खगोलशास्त्री आर्यभट ने ऐसा प्रतिपादित किया कि पृथ्वी अपनी धुरी के चारों ओर घूमने के कारण स्थिर आकाश के तारे पूरब से पश्चिम जाते दिखाई देते हैं। आर्यभट ने इसके लिये एक उपमा भी दी थी: नाव में से जाने वाला आदमी नदी किनारे पर के पेड़ों को उल्टी दिशा में जाते देखता है।

यद्यपि यह उपमा आर्यभट की विचारधारा को स्पष्ट करती है तो भी तत्कालीन मतप्रणाली के विरुद्ध ये विचार आर्यभट के सहकारियों और शिष्यों को मान्य नहीं हुए। उन्होंने या तो आर्यभट के श्लोक का (जिसमें यह कल्पना स्पष्ट की गई थी) उलटा अर्थ लगाने का प्रयास किया या यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि उसने यह श्लोक लिखा ही नहीं। विज्ञान की उन्नति जिन नये विचारों से होती है वे विचार कभी-कभी मानव समाज को ही नहीं बल्कि अनुभवी वैज्ञानिकों को भी गलत या अप्रिय प्रतीत होते हैं, इसका यह एक उदाहरण है। शायद भारतीयों की सामाजिक और धार्मिक सहिष्णुता इसका कारण हो सकती है कि अपने इस क्रांतिकारी सिद्धान्त के लिये आर्यभट को ऐसी कोई सजा नहीं भुगतनी पड़ी जैसी अनेक शताब्दियों पश्चात् जिओर्डानो ब्रूनो, कोपर्निकस और गलिलियो को मध्ययुगीन यूरोप में भुगतनी पड़ी।

आर्यभट, वराहमिहिर, भास्कराचार्य आदि कुछ नाम ऐसे हैं जो हमें १०-१५ शताब्दियों पहले के भारतवर्ष में गणित और खगोलशास्त्र की परम्परा की याद दिलाते हैं। अंकगणित, बीजगणित,

ज्यामिति, त्रिकोणमिति तथा उनके खगोलशास्त्र में उपयोग इन वैज्ञानिकों के ग्रन्थों में देखने को मिलते हैं। इन ग्रंथों से यह भी दिखाई देता है कि संस्कृत भाषा इन वैज्ञानिक कल्पनाओं को व्यक्त करने में समर्थ रही है।

परम्परा का खण्डन ?

दुर्भाग्य से, जहांतक ऐतिहासिक ग्रंथों के आधार उपलब्ध हैं उनसे पता चलता है कि यह शुद्ध विज्ञान की परम्परा उपरोक्त कालखण्ड के बाद नहीं चली। इसके क्या कारण हो सकते हैं ?

क्या हम ऐसा कह सकते हैं कि जैसे-जैसे देश पर उत्तर-पश्चिमी भाग से आक्रमण होते गये वैसे वैसे देश का शांति का वातावरण डगमगा गया और ऐसे वातावरण के अभाव में देश में विज्ञान उन्नतिशील न रह सका ? मुझे यह कारण उतना तगड़ा नहीं लगता। यदि हम यूरोप का इतिहास देखें तो हमें ऐसा दिखाई देगा कि १५०० से १९०० तक के काल में जब वहां विज्ञान फला-फूला तब यूरोप में भी कोई शांति का वातावरण नहीं था। यूरोप के राष्ट्रों में छोटे मोटे कारणों से लड़ाइयां होती रही हैं।

एक कारण यह हो सकता है कि भारत के धर्मों में—जिनमें हिन्दू धर्म, बौद्ध और जैन धर्म (तथा इस्लाम भी) समाविष्ट हैं—समाज को ऐहिक सुख के बजाय परलोक के बारे में सोचने की प्रेरणा दी गई। इसलिये जीवनोपयोगी वैज्ञानिक अनुसंधान करने की ओर विचारवंतों की प्रवृत्ति न रही होगी। इसके विपरीत यूरोप में हुई वैज्ञानिक क्रांति बहुत अंशों में प्रायोगिक एवं औद्योगिक उद्देश्यों से किये गये अनुसंधानों के कारण हुई। नौकानयन, युद्धशास्त्र, वास्तुशास्त्र, वैद्यकशास्त्र आदि अनेक कारणों से यूरोप में उपरोक्त काल में विज्ञान फला फूला।

यूरोप में वैज्ञानिक वृद्धि का एक अन्य कारण रहा है विज्ञान और वैज्ञानिकों को मिला धनिकों का तथा राजाओं का आश्रय। इटली में इसका प्रारम्भ हुआ और फिर यह प्रथा अन्य देशों में भी फैली। फ्रांस के राजाओं ने राष्ट्रीय वैज्ञानिक अकादमी को पर्याप्त सहायता दी। इंग्लैंड में रायल सोसायटी की स्थापना की गई।...इस प्रथा का अभाव भारत में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। यहाँ के राजाओं ने वास्तुकला, चित्रकला, गायनकला को प्रोत्साहन दिया, कवियों को आश्रय दिया लेकिन वे ऐसा वातावरण नहीं पैदा कर सके जिसमें विज्ञान भी फले फूले। हाँ, जयपुर, दिल्ली आदि स्थानों की वेधशालाएँ इस बात की याद दिलाती हैं कि जयसिंह जैसे कुछ अपवादात्मक उदाहरण भी हमारे इतिहास में हो चुके हैं। लेकिन ऐसे अपवाद केवल अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं।

क्या यही कारण है कि भारत में तानसेन और संगीत के बड़े घराने हुए, ताजमहल बना, लेकिन न्यूटन, हॅले, लॅव्हॉइज़िये, जैसे वैज्ञानिक नहीं बन सके ? यह एक आत्मपरीक्षण का विषय है। वैद्यकशास्त्र में भी ऐसी ही परिस्थिति दिखाई देती है। एक ओर पुरानकालीन आयुर्वेदिक ग्रन्थ सुश्रुत संहिता, चरक-संहिता जैसे, प्राचीन भारत की वैद्यकशास्त्र में उन्नति दिखाते हैं तो दूसरी ओर हम उस प्राचीन परम्परा की बराबरी का कोई महान ग्रंथ १५००-१९०० ई० स० के बीच नहीं पाते।

आधुनिक परिस्थिति

भारत में विज्ञान का पुनरुज्जीवन बीसवीं शताब्दी में ही हुआ। अंग्रेजी साम्राज्य की छत्र-छाया के नीचे होने के कारण स्वाभाविकतया उस पर यूरोप की विज्ञान परम्परा की छाप पड़ी। स्वतंत्र भारत ने भी उसी परम्परा को अपनाया है। आज देश में जो कुछ वैज्ञानिक अनुसंधान हो रहे हैं वे अधिकांश रूप से सरकारी अनुदान से हो रहे हैं। अनुसंधान के दिनोंदिन बढ़ते खर्चे को देखते हुए अब नये प्रश्न समाज के सम्मुख आ गये हैं।

सरकारी अनुदान राष्ट्र की सम्पत्ति से दिया जाता है। इसलिये राष्ट्र की अपेक्षा है कि वैज्ञानिक अनुसंधान राष्ट्र के हित के लिये, उसे अधिक सम्पन्न बनाने के लिये, उसकी कठिनाइयाँ दूर करने के लिये होना चाहिये। इस दृष्टि से अनुसंधान किन दिशाओं में होना आवश्यक है ? सम्पन्न राष्ट्रों को भी, जिनके पास वैज्ञानिक अनुसंधान के लिये विपुल राशि उपलब्ध हैं, ऐसे प्रश्नों पर विस्तार से चर्चा करनी पड़ती है।

इसमें संदेह नहीं कि आज के विज्ञान युग में आगे बढ़ने के लिये विज्ञान की सहायता अत्यावश्यक है लेकिन मरीज अपने रोग के इलाज के लिये जो औषधि इस्तेमाल करता है वह औषधि सोच-विचार करके ही दी जाती है। बिना सोचे-विचारे दी गई औषधि मरीज के लिये हानिकारक सिद्ध हो सकती है। उसी प्रकार वैज्ञानिक अनुसंधान की दिशा सोच-विचार कर राष्ट्र के हित के उद्देश्य से ही निश्चित की जानी चाहिये। जो विज्ञान परम्परा प्राचीन भारत में थी, जो बीच में खण्डितप्राय हो गई और जिसका पुनरुज्जीवन आजकल के जमाने में हुआ है उसे बनाये रखने के लिये देश के वैज्ञानिकों तथा अन्य विचारवंतों को उपरि-निर्दिष्ट चर्चा में भाग लेना आवश्यक है।